



National Journal of Hindi & Sanskrit Research

ISSN: 2454-9177

NJHSR 2026; 1(68): 56-60

© 2026 NJHSR

www.sanskritarticle.com

सुशील कुमार सिंह

सहायक आचार्य

टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, भागलपुर (बिहार)

द्वारा सम्बद्ध, टी.एम.बी. यूनिवर्सिटी,

भागलपुर

अप्पू कुमार

सहायक आचार्य

राजकीय डिग्री महाविद्यालय, फेनहारा

द्वारा सम्बद्ध, बी.आर.ए.बी.

यूनिवर्सिटी

21वीं सदी के दलित आत्मकथाओं में सामाजिक और शैक्षिक यथार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन

सुशील कुमार सिंह, अप्पू कुमारDOI: <https://doi.org/10.5281/zenodo.23031671>

शोध सार

इक्कीसवीं सदी का वैश्विक परिदृश्य जहाँ एक ओर तकनीकी और आर्थिक प्रगति का दावा करता है, वहीं दूसरी ओर भारतीय समाज की जड़ परम्पराएँ आज भी दलित जीवन को संघर्षपूर्ण बनाए हुए हैं। प्रस्तुत शोध आलेख का मुख्य उद्देश्य 21वीं सदी के प्रथम दो दशकों में प्रकाशित प्रमुख दलित आत्मकथाओं के आलोक में समकालीन सामाजिक और शैक्षिक यथार्थ का आलोचनात्मक विश्लेषण करना है। यह शोध इस बात की पड़ताल करता है कि आधुनिकता और वैश्वीकरण के दौर में जातिगत भेदभाव के स्वरूप में क्या बदलाव आए हैं। शोध का एक महत्वपूर्ण पक्ष शिक्षा है, जिसे दलित चेतना ने सदैव मुक्ति के साधन के रूप में देखा है। शोध में यह रेखांकित किया गया है कि कैसे शिक्षण संस्थानों में दलित लेखकों को मेरिट और जाति के द्वंद्व के बीच अपनी पहचान बनानी पड़ी। यह अध्ययन केवल 20वीं और 21वीं सदी के आत्मकथा के प्रताड़ना का दस्तावेज मात्र नहीं है, बल्कि यह दलित समाज की प्रतिरोध की संस्कृति, आत्म-सम्मान और सामाजिक न्याय की नई परिभाषाओं को भी विश्लेषित करता है। गुणात्मक एवं वर्णनात्मक शोध पद्धति का प्रयोग करते हुए यह शोध पत्र हिन्दी तथा अन्य भाषों की दलित आत्मकथाओं के माध्यम से यह निष्कर्ष निकालने का प्रयास करता है कि शैक्षिक उपलब्धियों के बावजूद सामाजिक पदानुक्रम में दलितों का संघर्ष अभी भी निरंतरता में है।

मुख्य शब्द : दलित आत्मकथा, 21वीं सदी, सामाजिक यथार्थ, शैक्षिक संघर्ष, जातिगत भेदभाव, अस्मिता बोध, आलोचनात्मक अध्ययन, समकालीन साहित्य।

प्रस्तावना

भारतीय समाज सदियों से जातिवादी व्यवस्था के बोझ तले दबा रहा है, जिसमें सबसे अधिक शोषित रहा है 'दलित समुदाय'। दलित समुदाय केवल मानवीय गरिमा से ही वंचित नहीं रहा, बल्कि उन्हें सामाजिक, आर्थिक और शैक्षिक तौर पर भी वंचित रखा गया। "साहित्य जिसे समाज का दर्पण कहा जाता है" (आचार्य शुक्ल, 'हिंदी साहित्य का इतिहास') ने भी लंबे समय तक इन अनुभवों को दरकिनार किया। दलित साहित्य केवल शब्दों का विन्यास नहीं, बल्कि सदियों से दमित और हाशिए पर धकेले गए समाज की अस्मिता, संघर्ष और न्याय की सामूहिक पुकार है। जिसे 20वीं सदी के उत्तरार्ध से विशेषतः दलित चेतना के उद्भव के साथ ही हिन्दी साहित्य में एक नई धारा का प्रवाह आरंभ हुआ, जिसे 'दलित साहित्य' के रूप में पहचान मिली। किंतु, साहित्य का क्षेत्र, विशेषकर दलित आत्मकथा विधा, इस आवरण को हटाकर उस कड़वे यथार्थ को सामने लाती है जो आज भी जातिगत श्रेष्ठता के दंभ और श्रेणीबद्ध असमानता पर आधारित है। दलित आत्मकथा केवल एक व्यक्ति के जीवन का इतिवृत्त नहीं होती, बल्कि वह पूरे समाज की पीड़ा, प्रतिरोध और अस्मिता की सामूहिक अभिव्यक्ति है।

Correspondence:

सुशील कुमार सिंह

सहायक आचार्य

टीचर्स ट्रेनिंग कॉलेज, भागलपुर (बिहार)

द्वारा सम्बद्ध, टी.एम.बी. यूनिवर्सिटी,

भागलपुर

दलित साहित्य ने समाज में व्याप्त शोषण, अपमान, अस्पृश्यता और अन्याय को स्वर देने का कार्य किया। इस साहित्य की सबसे सशक्त विधा रही है “आत्मकथा”, जिसके माध्यम से दलित रचनाकारों ने अपने व्यक्तिगत जीवन अनुभवों को सांझा किया है। आत्मकथा ने सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक तथा शैक्षिक शोषण की परतों को खोलते हुए दलित जीवन की वास्तविकता को सामने लाने का काम किया है। 21वीं सदी में दलित आत्मकथाओं की संख्या में वृद्धि के साथ-साथ उनमें विमर्श की परिपक्वता भी देखने को मिलती है। अब आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत पीड़ा का आख्यान नहीं रहीं, बल्कि ये व्यापक सामाजिक दस्तावेज बन गई हैं। इक्कीसवीं सदी की दलित आत्मकथाओं में सामाजिक यथार्थ एवं विमर्श का स्वर पूर्ववर्ती आत्मकथाओं की तुलना में कहीं अधिक व्यापक, प्रखर एवं वैचारिक रूप में सामने आया है। यहाँ केवल दमन और पीड़ा का वर्णन नहीं, बल्कि आत्मसम्मान, अस्मिता, अधिकार चेतना, सामाजिक न्याय और शैक्षिक हिस्सेदारी की स्पष्ट मांग भी अभिव्यक्त होती है।

आलोचनात्मक अध्ययन के परिप्रेक्ष्य से देखा जाए तो इक्कीसवीं सदी की दलित आत्मकथाएँ सामाजिक यथार्थ को केवल वर्णनात्मक स्तर पर ही नहीं प्रस्तुत करतीं, बल्कि समाज में व्याप्त असमानता, रूढ़िवादिता और अन्याय के विरुद्ध विमर्श को भी जन्म देती हैं। इनमें अस्मिता विमर्श, स्त्री विमर्श, शिक्षा विमर्श, जाति-विरोधी विमर्श और लोकतांत्रिक विमर्श प्रमुख रूप से उभरते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि दलित आत्मकथाएँ मात्र साहित्यिक कृतियाँ नहीं, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के संसाधन हैं। जिनमें शिक्षा, समानता और अधिकारों की भूख नज़र आती है। यह शोध पत्र 21वीं सदी में प्रकाशित दलित आत्मकथाओं का अध्ययन कर वर्तमान में दलितों के सामाजिक एवं शैक्षिक स्थिति के यथार्थ का चित्रण करती है। इसमें 20वीं सदी की आत्मकथाएँ केवल संदर्भ एवं तुलनात्मक रूप में प्रयुक्त की गई है। यह शोध दलित आत्मकथाओं के माध्यम से दलितों के सामाजिक एवं शैक्षिक यथार्थ का आलोचनात्मक अध्ययन है।

साहित्य समीक्षा

दलित आत्मकथा हिंदी सहित भारतीय भाषाओं के साहित्य में सामाजिक अनुभवों को अभिव्यक्त करने वाली एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में विकसित हुई है। इसके माध्यम से दलित लेखकों ने जाति-व्यवस्था, सामाजिक भेदभाव, अस्पृश्यता तथा शिक्षा और अवसरों की असमानता जैसे अनुभवों को आत्मानुभूति के स्तर पर अभिव्यक्त किया है। 21वीं सदी में प्रकाशित दलित आत्मकथाओं में यह विमर्श केवल जातिगत उत्पीड़न तक सीमित नहीं रहता, बल्कि शिक्षा, आत्मसम्मान और परिवर्तन की आकांक्षा से भी जुड़ता दिखाई देता है। इस दृष्टि से दलित आत्मकथाएँ सामाजिक एवं शैक्षिक यथार्थ को समझने के लिए महत्वपूर्ण अनुभवजन्य साहित्यिक स्रोत हैं।

● **शयोराज सिंह बेचैन** की “मेरा बचपन मेरे कंधों पर” (2009) और “मुर्दहिया आत्मकथा” (2010) में दलित जीवन के सामाजिक और शैक्षिक यथार्थ का प्रभावी चित्रण मिलता है। इन कृतियों में जातिगत भेदभाव, आर्थिक अभाव और शिक्षा प्राप्त करने के संघर्ष को आत्मानुभवों के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। विशेषतः मुर्दहिया में विद्यालयी जीवन के अनुभव बताते हैं कि दलित बालक के लिए शिक्षा केवल ज्ञान का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक बाधाओं को पार करने और आत्मसम्मान अर्जित करने का साधन भी है।

● **सुशीला टाकभौरे** की “शिकंजे का दर्द” (2011) में दलित स्त्री के सामाजिक और शैक्षिक अनुभवों का प्रभावी चित्रण मिलता है। इसमें जातिगत भेदभाव, लैंगिक असमानता, सामाजिक रूढ़ियों और शिक्षा प्राप्त करने के संघर्ष को दिखाया गया है। आत्मकथा यह स्पष्ट करती है कि दलित स्त्री के लिए शिक्षा केवल ज्ञान प्राप्ति का माध्यम नहीं, बल्कि आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान और सामाजिक बंधनों से मुक्ति का साधन भी है।

इसी प्रकार दलित आत्मकथा संबंधी आलोचनात्मक अध्ययनों में भी जाति-अनुभव, सामाजिक बहिष्कार और प्रतिरोध प्रमुख विषय रहे हैं। शिक्षा के संदर्भ में शैक्षिक वंचना और संस्थागत भेदभाव पर भी चर्चा मिलती है। वही दलित स्त्री आत्मकथाओं पर भी हुए अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि उनके अनुभव केवल जातिगत भेदभाव तक सीमित नहीं हैं, बल्कि पितृसत्ता के संयुक्त प्रभाव से निर्मित होते हैं। इन आत्मकथाओं में शिक्षा को आत्मनिर्भरता, आत्मसम्मान और सामाजिक प्रतिरोध के माध्यम के रूप में देखा गया है।

● **कमलेश सिंह (1982)** ने “हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य” विषय पर गुजरात विश्वविद्यालय में शोध करते हुए हिंदी आत्मकथा के स्वरूप, विकास और साहित्यिक महत्त्व का अध्ययन किया। यह अध्ययन आत्मकथा-विधा की आधारभूत समझ विकसित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

● **प्रतिभा सोनगरा (2016)** ने मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर में “हिन्दी साहित्य में दलित आत्मकथाओं का अनुशीलन” विषय पर शोध किया। इस अध्ययन में हिंदी दलित आत्मकथाओं के माध्यम से दलित जीवन, सामाजिक परिस्थितियों, शोषण, भेदभाव और दलित चेतना का अनुशीलन किया गया है।

● **संतोष कुमार (2017)** ने गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, विलासपुर में “महिला आत्मकथा लेखन में स्त्री-मुक्ति की चेतना” पर शोध किया। इसमें महिला आत्मकथा लेखन के माध्यम से स्त्री की स्वतंत्रता, अस्मिता और सामाजिक बंधनों से मुक्ति की चेतना का विश्लेषण किया गया है।

उपलब्ध शोध-अध्ययनों से स्पष्ट होता है कि दलित आत्मकथा में सामाजिक अनुभव और शिक्षा के लिए संघर्ष के साथ स्त्री-मुक्ति जैसे पक्षों पर पर्याप्त कार्य हुआ है। फिर भी 21वीं सदी की दलित आत्मकथाओं में सामाजिक यथार्थ, शैक्षिक संघर्ष और उससे जुड़े विमर्शों के आलोचनात्मक अध्ययन की पर्याप्त गुंजाइश बनी हुई है। यही इस अध्ययन का प्रमुख शोध-अंतराल है।

शोध के उद्देश्य

1. 21वीं सदी की चयनित दलित आत्मकथाओं में चित्रित सामाजिक यथार्थ का अध्ययन करना।

2. चयनित आत्मकथाओं में शिक्षा प्राप्त करने के संघर्ष, शैक्षिक भेदभाव और शैक्षिक अवसरों का विश्लेषण करना।

3. शिक्षा और सामाजिक चेतना, आत्मसम्मान तथा सामाजिक परिवर्तन के पारस्परिक संबंध को समझना।

हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में 21वीं सदी के दलित आत्मकथा का स्वरूप एवं विकास

21वीं सदी में दलित आत्मकथा हिंदी साहित्य की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में उभरती है, जिसमें दलित जीवन के व्यक्तिगत अनुभवों के साथ सामाजिक यथार्थ को भी अभिव्यक्ति मिली है।

पूर्ववर्ती दलित आत्मकथाओं में जहाँ जातिगत अपमान, अस्पृश्यता और सामाजिक बहिष्कार प्रमुख रहे, वहीं नई सदी की आत्मकथाओं में शिक्षा, आत्मसम्मान, सामाजिक चेतना, स्त्री-अस्मिता और सामाजिक परिवर्तन जैसे प्रश्न भी प्रमुखता से सामने आते हैं। इस दौर की आत्मकथाएँ व्यक्तिगत जीवन-कथा तक सीमित न रहकर अपने समय की सामाजिक संरचना और असमानताओं का दस्तावेज बनती हैं।

इस क्रम में श्योराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (2009) और 'मुर्दहिया' (2010) तथा सुशीला टाकभोरे की 'शिकंजे का दर्द' (2011) आदि जैसी कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। इनमें जातिगत भेदभाव, आर्थिक अभाव, सामाजिक संघर्ष और शिक्षा प्राप्त करने की आकांक्षा को आत्मनुभव के स्तर पर प्रस्तुत किया गया है। विशेष रूप से शिक्षा इन आत्मकथाओं में सामाजिक सीमाओं को चुनौती देने, आत्मविश्वास विकसित करने और अपनी पहचान निर्मित करने के माध्यम के रूप में दिखाई देती है। इस प्रकार 21वीं सदी की दलित आत्मकथा 'भोगे हुए यथार्थ' से आगे बढ़कर सामाजिक प्रश्नों, अस्मिता और परिवर्तन की चेतना को स्वर देने वाली साहित्यिक अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हुई है।

दलित साहित्य का वैचारिक आधार (अम्बेडकरवाद)

दलित साहित्य कोई आकस्मिक साहित्यिक उभार नहीं है, बल्कि यह हज़ारों वर्षों के शोषण के विरुद्ध एक वैचारिक क्रांति है। भले इसकी शुरुआत ज्योतिबा फुले से हुई हो लेकिन इसकी प्राणवायु 'अम्बेडकरवाद' ही रही है, जो केवल एक राजनीतिक विचारधारा न होकर एक संपूर्ण जीवन-दर्शन है। 21वीं सदी की आत्मकथाओं में यह दर्शन मात्र नारों में नहीं, बल्कि जीवन के सूक्ष्म अनुभवों में रचा-बसा दिखाई देता है। अम्बेडकरवाद लेखकों को उन धार्मिक और पौराणिक व्याख्याओं को चुनौती देने का साहस देता है जो दलितों की स्थिति को 'नियति' या 'पूर्वजन्मों का फल' बताती थीं। इन आत्मकथाओं में केवल राजनीतिक आजादी की बात नहीं है, बल्कि उस सामाजिक लोकतंत्र की खोज है जहाँ 'एक व्यक्ति - एक मूल्य' का सिद्धांत लागू हो सके। यह वैचारिकी लेखकों को आत्म-विश्लेषण और समाज-विश्लेषण की वह सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करती है जिससे वे सूक्ष्म से सूक्ष्म भेदभाव को पहचान सकें। डॉ. अम्बेडकर ने कहा था कि "गुलाम को उसकी गुलामी का अहसास करा दो, तो वह विद्रोह कर देगा" यही चेतना दलित आत्मकथाओं का आधार है।

● **समतामूलक समाज और संवैधानिक नैतिकता** : अम्बेडकरवादी विचार का लक्ष्य एक ऐसे समाज के निर्माण से है, जो 'स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो। 21वीं सदी के रचनाकार अपनी आत्मकथाओं में केवल व्यक्तिगत दुखों का व्याख्यान करते नजर नहीं आते, बल्कि वे 'संवैधानिक नैतिकता' की मांग भी करते हैं। वे समाज में आज भी उपस्थित संवैधानिक मूल्यों और ज़मीनी हकीकत के बीच की बड़ी खाई को दिखते हैं। यह वैचारिकी लेखकों को राज्य और संस्थाओं से सवाल पूछने का साहस प्रदान करती है।

● **शिक्षा मुक्ति का महामार्ग** : 20वीं सदी में छुआछूत गाँव की चौपाल पर थी, जो 21वीं सदी में वह विश्वविद्यालयों के सेमिनार

रूम और कॉरपोरेट ऑफिस के भीतर सूक्ष्म रूप में पहुँच गई। नई आत्मकथाएँ इस अदृश्य भेदभाव को उजागर करती हैं। आधुनिक समय में जहाँ शिक्षा को समानता का साधन माना जाता है, वहीं 'रोहित वेमुला' हैदराबाद केंद्रीय विश्वविद्यालय जैसी घटनाएँ यह सोचने पर मजबूर करते हैं कि क्या शैक्षिक क्षेत्र वास्तव में जातिमुक्त हुए हैं? यह शोध आत्मकथाओं के माध्यम से इस कड़वे सच की पड़ताल करता है।

अम्बेडकरवाद में शिक्षा को केवल आजीविका का साधन नहीं माना गया है, बल्कि यहाँ शिक्षा तो 'मुक्ति' का माध्यम है। 21वीं सदी की आत्मकथाओं में शैक्षिक यथार्थ का जो चित्रण है, वह अम्बेडकर के इसी विचार से प्रभावित है। डॉ. अम्बेडकर ने शिक्षा को 'शेरनी का दूध' कहा 'जो पिएगा वो दहाड़ेगा', यही विचार 21वीं सदी की आत्मकथाओं के शैक्षिक यथार्थ का आधार स्तंभ बना। दलित लेखकों की रचनाओं ने यह स्पष्ट किया कि शिक्षा ने ही उन्हें वह दृष्टि दी जिससे वे अपने विरुद्ध हो रहे सूक्ष्म और स्थूल षड्यंत्रों को पहचान सके और समाज को अपनी कहानी सुना सके। इन रचनाओं में शिक्षा केवल डिग्री प्राप्त करने का साधन नहीं, बल्कि आत्म-बोध और सामाजिक गुलामी की कड़ियों को तोड़ने का एक वैचारिक मार्ग है।

21वीं सदी की आत्मकथाओं का पूर्ववर्ती (20वीं सदी) आत्मकथाओं से अंतर

प्रस्तुत शोध अध्ययन में चयनित दलित आत्मकथा के माध्यम से सामाजिक और शैक्षिक संघर्ष का विश्लेषण किया गया है। कुछ चयनित आत्मकथाएँ एवं उनके लेखक के नाम हैं; 'तिरस्कृत' सूरजपाल चौहान; 'शिकंजे का दर्द' सुशीला टाकभोरे; 'मुर्दहिया' तुलसीराम; 'अक्करमाशी' शरणकुमार लिंबाले आदि।

1. सामाजिक यथार्थ : बहिष्कार से अस्मिता के पुनरुद्धार तक

20वीं सदी की प्रतिनिधि आत्मकथाओं जैसे 'जूठन' और 'अक्करमाशी' में सामाजिक यथार्थ का केंद्र 'शारीरिक और प्रत्यक्ष हिंसा' है, जहाँ भोजन (जूठन) और पानी के लिए संघर्ष मुख्य था। वहाँ दलित पात्र समाज के हाशिए पर बहिष्कृत जीवन जी रहा था। किंतु जब हम 21वीं सदी की रचनाओं, विशेषकर 'मुर्दहिया' और 'शिकंजे का दर्द' तक पहुँचते हैं, तो सामाजिक यथार्थ का स्वरूप बदल जाता है। यहाँ डॉ. तुलसीराम के माध्यम से 'मुर्दहिया' में हम देखते हैं कि दलित केवल पीड़ित नहीं है, बल्कि वह अपनी लोक-संस्कृति, अंधविश्वासों और सामाजिक जकड़न का 'समाजशास्त्रीय विश्लेषण' कर रहा है। 'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभोरे यह दिखाती हैं कि 21वीं सदी का सामाजिक संघर्ष केवल बाहर नहीं, बल्कि घर और संस्थाओं के भीतर है। सूरजपाल चौहान की आत्मकथा 'तिरस्कृत' केवल सवर्णों द्वारा किए गए अत्याचारों का वर्णन नहीं है, बल्कि वे दलित समाज के भीतर की उन बुराइयों और अंधविश्वासों का भी 'समाजशास्त्रीय विश्लेषण' करते हैं जो अपने ही लोगों के प्रगति में बाधक थे। 20वीं सदी की आत्मकथा जहाँ 'अस्तित्व' की लड़ाई थी, वहीं 21वीं सदी की ये आत्मकथाएँ 'अस्मिता' और सामाजिक गरिमा की लड़ाई बनी।

क) अस्तित्व और अस्मिता की लड़ाई : 20वीं सदी की आत्मकथा 'अक्रमाशी' में शरणकुमार लिंबाले का संघर्ष अपनी अवैधता और पेट की भूख मिटाने के लिए जूठन प्राप्त करने तक सीमित था। यहाँ समाज का यथार्थ यह था कि दलित को मनुष्य की श्रेणी में ही नहीं गिना जाता था। इसके विपरीत, 21वीं सदी की आत्मकथा 'मुर्दहिया' में डॉ. तुलसीराम केवल गरीबी का रोना नहीं रोते। वे दिखाते हैं कि कैसे उनके ही गाँव में अन्धविश्वासों के माध्यम से दलितों को मानसिक रूप से गुलाम बनाया गया था। जब तुलसीराम अपनी एक आँख खोने के बावजूद पढ़ने जाते हैं, तो उनका संघर्ष 'जूठन' के लिए नहीं, बल्कि 'अपशकुन' के ठप्पे को मिटाकर एक 'विद्वान' की पहचान बनाने के लिए है। यह अस्तित्व बचाने से आगे बढ़कर अपनी गरिमा को पुनर्स्थापित करने का यथार्थ है।

ख) 'प्रत्यक्ष हिंसा' से 'संस्थागत भेदभाव' तक : ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' में सामाजिक यथार्थ त्यागी समाज द्वारा दी गई शारीरिक यातना और गालियों में दिखता है। यह प्रत्यक्ष और नग्न यथार्थ था। किंतु 'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभोरे 21वीं सदी के उस सूक्ष्म यथार्थ को सामने लाती हैं, जहाँ एक उच्च शिक्षित दलित महिला को 'प्रोफेसर' बनने के बाद भी अपने सहकर्मियों के बीच 'जातिगत श्रेष्ठता' के दंभ का सामना करना पड़ता है। यहाँ गाली नहीं दी जाती, बल्कि 'मेरिट', 'कोटा' और 'संस्कार' जैसे शब्दों के आवरण में दलित मेधा को नकारा जाता है। टाकभोरे दिखाती हैं कि कैसे शिक्षित समाज में जाति 'अदृश्य' होकर भी अधिक प्रभावशाली ढंग से काम करती है।

ग) दलित समाज में स्त्रियाँ एवं 'पितृसत्तात्मक व्यवस्था' : कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' (जो संक्रमण काल की रचना है) और सुशीला टाकभोरे की आत्मकथा में यह सामाजिक यथार्थ उभरता है। जहाँ दलित स्त्रियाँ केवल बाहरी समाज (सर्वण समाज) से नहीं लड़ रही, बल्कि वह अपने ही समाज के भीतर की पितृसत्ता से भी लड़ रही है। 21वीं सदी की आत्मकथाओं में यह यथार्थ बहुत प्रखर है कि 'मुक्ति' का अर्थ केवल सर्वणों से बराबरी करना नहीं, बल्कि दलित पुरुष के बराबर अधिकार पाना भी है।

घ) लोक-संस्कृति का समाजशास्त्रीय विश्लेषण: 20वीं सदी की आत्मकथाओं में अपनी लोक-परम्पराओं को अक्सर पिछड़ेपन की निशानी के रूप में देखा गया। लेकिन 21वीं सदी की 'मुर्दहिया' में तुलसीराम ने मुर्दहिया (शमशान) को केवल दुख की जगह नहीं, बल्कि अपने जीवन की पाठशाला और लोक-ज्ञान के केंद्र के रूप में चित्रित किया है। यह 21वीं सदी का वह यथार्थ है जहाँ दलित लेखक अपनी जड़ों को हीन नहीं मानता, बल्कि उनका आलोचनात्मक अध्ययन कर उन्हें इतिहास के पन्नों में दर्ज करता है।

अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि 20वीं सदी के दलित आत्मकथाओं में सामाजिक यथार्थ सहानुभूति जगाने वाला था, जबकि 21वीं सदी की दलित आत्मकथाओं का यथार्थ जागरूकता, चेतना और वैचारिक चुनौती देने वाला है।

2. शैक्षिक यथार्थ : बुनियादी संघर्ष से बौद्धिक वर्चस्व तक

शिक्षा के क्षेत्र में 20वीं सदी तथा 21वीं सदी के दलित आत्मकथाओं के बीच के अंतर का अध्ययन सबसे महत्वपूर्ण है। एक तरफ 'जूठन' में ओमप्रकाश वाल्मीकि के लिए शिक्षा प्राप्त करना एक संघर्ष था। लेखक को कक्षा के बाहर बैठकर पढ़ाई करनी पड़ती थी और शिक्षक द्वारा प्रताड़ित किया जाता था। यहाँ शिक्षा के अधिकार की लड़ाई थी। परंतु इसके विपरीत, 21वीं सदी की आत्मकथा 'मुर्दहिया' में डॉ. तुलसीराम शिक्षा को वैचारिक मुक्ति के रूप में देखते हैं। यहाँ संघर्ष कक्षा में बैठने का नहीं, बल्कि मेरिट की राजनीति और बौद्धिक वर्चस्व को चुनौती देने का है। 'शिकंजे का दर्द' सुशीला टाकभोरे की आत्मकथा में शैक्षिक यथार्थ एक नया मोड़ लेता है, जहाँ एक दलित महिला शिक्षिका के रूप में अपनी उच्च शिक्षा के बावजूद कार्यस्थल पर भेदभाव का सामना करती है। इस प्रकार, 20वीं सदी की आत्मकथाओं में शिक्षा अंधेरे से निकलने का रास्ता थी, तो 21वीं सदी की आत्मकथाओं में शिक्षा 'सत्ता और व्यवस्था के चरित्र को समझने का एक अस्त्र' बन गई है।

क) शिक्षा अंधेरे से मुक्ति या व्यवस्था का अनावरण : 20वीं सदी की आत्मकथाओं जैसे 'जूठन' और 'अक्रमाशी' में शिक्षा का प्राथमिक यथार्थ अज्ञानता और घोर अपमान के 'अंधेरे' से बाहर निकलकर एक मनुष्य के रूप में पहचान पाना था। वहाँ शिक्षा का अर्थ 'साक्षर' होना था। किंतु 21वीं सदी की 'मुर्दहिया' में शिक्षा 'अस्त्र' बन गई है। डॉ. तुलसीराम शिक्षा के माध्यम से केवल साक्षर नहीं होते, बल्कि वे उस 'ब्राह्मणवादी तंत्र' के चरित्र को समझते हैं जिसने दलितों को अन्धविश्वासों की बेड़ियों में जकड़ रखा था। यहाँ शिक्षा का यथार्थ अब आत्म-दया नहीं, बल्कि शैक्षिक व्यवस्था की सच्चाई को एक 'समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण' से विकसित करना है।

ख) शैक्षिक क्षेत्र और संस्थागत जातिवाद : 20वीं सदी का शैक्षिक यथार्थ प्रत्यक्ष दमन का था जहाँ दलित विद्यार्थियों को विद्यालय की साफ-सफाई उनके जातिगत भेद-भाव से दिए जाते थे (जैसे 'जूठन' में स्कूल की सफाई का वर्णन)। इसके विपरीत, 21वीं सदी की आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में सुशीला टाकभोरे दिखाती हैं कि अब जातिवाद स्कूल के बरामदे में नहीं, बल्कि विश्वविद्यालय की कार्यसमिति और चयन प्रक्रियाओं में छिपा है। यहाँ शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी, व्यवस्था 'मेरिट' और 'योग्यता' के मानकों को इस तरह परिभाषित करती है कि दलित मेधा को हाशिए पर रखा जा सके। यह बदलाव स्पष्ट करता है कि अब शिक्षा का यथार्थ संस्थानों के भीतर के 'अदृश्य भेदभाव' को पहचानने और उससे लड़ने का है।

ग) रोटी की मजबूरी से बौद्धिक सत्ता की ओर : 'अक्रमाशी' में शिक्षा का यथार्थ आर्थिक सुरक्षा और भूख मिटाने के संघर्ष से जुड़ा था। वहाँ शिक्षा 'पेट' के लिए थी। लेकिन 21वीं सदी की दलित आत्मकथाओं जैसे 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (शयोराज सिंह बेचैन), 'शिकंजे का दर्द' (सुशीला टाकभोरे), 'दोहरा अभिशाप' (कौशल्या बैसंत्री) में शिक्षा मस्तिष्क और सत्ता के लिए है। तुलसीराम और सुशीला टाकभोरे की रचनाओं में शिक्षा का अर्थ केवल नौकरी पाना नहीं, बल्कि ज्ञान के क्षेत्र में अपना हस्तक्षेप दर्ज करना है। अब दलित लेखक केवल पाठक नहीं हैं, बल्कि वह स्वयं ज्ञान का निर्माता है।

शिक्षा यहाँ एक ऐसा अस्त्र है जो इतिहास की पुनर्व्याख्या करने और अपनी नई अस्मिता गढ़ने की शक्ति देती है।

घ) शिक्षा के माध्यम से लैंगिक विद्रोह एक दोहरा अभिशाप : कौशल्या बैसंत्री की 'दोहरा अभिशाप' और सुशीला टाकभोरे की रचना 'शिकंजे का दर्द' में शैक्षिक यथार्थ का एक महत्वपूर्ण आयाम स्त्री-मुक्ति का स्वर है। जहाँ 20वीं सदी में दलित पुरुष के लिए शिक्षा जाति से लड़ने का साधन थी, वहीं 21वीं सदी की इन आत्मकथाओं में दलित स्त्री के लिए शिक्षा जाति और पुरुष सत्ता दोनों के चरित्र को समझने का उपकरण है। दलित आत्मकथाओं में शिक्षा पुरुषों के साथ-साथ विशेषकर स्त्री को यह समझाती है कि उसका संघर्ष केवल सवर्णों से नहीं, बल्कि अपने ही समाज के भीतर के उस ढाँचे से भी है जो उसे दोहरे अभिशाप में जकड़े हुए है। 21वीं सदी की दलित आत्मकथाओं में शिक्षा निजी स्वतंत्रता का घोषणापत्र बन गई है।

अतः 20वीं और 21वीं सदी की दलित आत्मकथाओं की तुलना से स्पष्ट होता है कि दलित जीवन में अधिकार और सामाजिक गरिमा की चेतना का यथार्थ अस्तित्व की लड़ाई से अस्मिता तक विकसित हुआ है। शिक्षा ही इस परिवर्तन का महत्वपूर्ण माध्यम बनी है जहाँ पूर्ववर्ती आत्मकथाओं में शिक्षा का संघर्ष विद्यालय तक पहुँच और अपमान से मुक्ति का था, वहीं 21वीं सदी की आत्मकथाओं में यह सामाजिक चेतना, आत्मनिर्भरता, संस्थागत भेदभाव के प्रतिरोध और ज्ञान-निर्माण का साधन बनती है। इस प्रकार समकालीन दलित आत्मकथाएँ केवल पीड़ा का दस्तावेज न रहकर सामाजिक परिवर्तन, अस्मिता और प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति बन गई हैं।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि 21वीं सदी की दलित आत्मकथाएँ केवल लेखक के निजी जीवन और संघर्ष की कहानी नहीं हैं, बल्कि वे समाज की उन सच्चाइयों को सामने लाती हैं, जिनका अनुभव दलित समुदाय लंबे समय से करता आया है। 'जूठन', 'मुर्दहिया', 'शिकंजे का दर्द' और 'तिरस्कृत' आदि जैसी आत्मकथाओं में जातिगत भेदभाव, आर्थिक अभाव, सामाजिक उपेक्षा और शैक्षिक संघर्ष के साथ-साथ अपने अस्तित्व और सम्मान के लिए संघर्ष भी दिखाई देता है। इन रचनाओं में पीड़ा के साथ अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता और परिस्थितियों को बदलने की इच्छा भी दिखाई देती है। इन आत्मकथाओं में शिक्षा का प्रश्न विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। शिक्षा प्राप्त करना यहाँ केवल पढ़-लिखकर नौकरी पाने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह स्वयं को समझने, आत्मविश्वास विकसित करने और सामाजिक भेदभाव के विरुद्ध आवाज उठाने का माध्यम बनती है। फिर भी शिक्षा प्राप्त कर लेने के बाद भी जातिगत पूर्वाग्रह पूरी तरह समाप्त नहीं होते। विद्यालय और उच्च शिक्षण संस्थानों में दिखाई देने वाले प्रत्यक्ष या सूक्ष्म भेदभाव यह बताते हैं कि शिक्षा के साथ-साथ सामाजिक सोच में बदलाव भी आवश्यक है।

- सोनी, माणक चंद. (2020). हिंदी दलित आत्मकथाओं में स्त्री चेतना का वर्तमान. *अपनी माटी*.
- सांगवा, अंजू, शर्मा एवं मीता. (2025). इक्कीसवीं सदी के हिन्दी आत्मकथा में दलित समाज: सुशीला टाकभोरे के *शिकंजे का दर्द* के

इस प्रकार 21वीं सदी की दलित आत्मकथाएँ पीड़ा से चेतना और वंचना से अधिकार की ओर बढ़ती हुई दिखाई देती हैं। वे केवल अपने अनुभव दर्ज नहीं करतीं, बल्कि पाठक को समाज में मौजूद असमानताओं पर सोचने के लिए भी प्रेरित करती हैं। इसलिए इन आत्मकथाओं का अध्ययन सामाजिक न्याय, समानता और शिक्षा के व्यापक प्रश्नों को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ये रचनाएँ दलित साहित्य को केवल विरोध का स्वर नहीं देतीं, बल्कि सम्मानपूर्ण जीवन और समान अवसर की मानवीय आकांक्षा को भी मजबूती से सामने रखती हैं।

संदर्भ सूची :

1. प्राथमिक स्रोत : साहित्य एवं आत्मकथा

- चौहान, सूरजपाल. (2005). *तिरस्कृत* (द्वितीय संस्करण). अनुभव प्रकाशन।
- बैसंत्री, कौशल्या. (2012). *दोहरा अभिशाप*. परमेश्वरी प्रकाशन।
- लिंबाले, शरणकुमार. (1984). *अक्करमाशी*.
- टाकभोरे, सुशीला. (2011). *शिकंजे का दर्द*. वाणी प्रकाशन।
- तुलसीराम. (2010). *मुर्दहिया*. राजकमल प्रकाशन।
- वाल्मीकि, ओमप्रकाश. (1997). *जूठन*. राधाकृष्ण प्रकाशन।
- बेचैन, श्यामराज सिंह. (2009). *मेरा बचपन मेरे कंधों पर*. वाणी प्रकाशन।

2. द्वितीयक स्रोत : शोध-प्रबंध एवं शोध-अध्ययन

- शुक्ल, रामचंद्र. (1929). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नागरी प्रचारिणी सभा।
 - सिंह, क. (1982). *हिन्दी आत्मकथा स्वरूप एवं साहित्य*. शोध-प्रबंध, गुजरात विश्वविद्यालय।
 - कुमार, स. (2017). *महिला आत्मकथा लेखन में स्त्री-मुक्ति की चेतना*. शोध-प्रबंध, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर।
 - दुबे, प्रीति. (2019). *स्त्री हिन्दी आत्मकथा-साहित्य: एक अनुशीलन (इक्कीसवीं सदी के विशेष संदर्भ में)*. शोध-प्रबंध, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा।
 - कुमार, संतोष. (2017). *महिला आत्मकथा लेखन में स्त्री-मुक्ति की चेतना*. शोध-प्रबंध, गुरु घासीदास विश्वविद्यालय, बिलासपुर।
 - मीना, हेमलता. (2018). *इक्कीसवीं सदी का महिला आत्मकथा लेखन: संघर्ष और सृजन*. शोध-प्रबंध, कोटा विश्वविद्यालय, कोटा।
 - वाजपेयी, अलका. (2022). *समकालीन महिला आत्मकथा लेखन: परम्परा और स्त्री विमर्श*. शोध-प्रबंध, जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर।
- विशेष संदर्भ में. *अंतर्राष्ट्रीय हिंदी एवं सामाजिक विज्ञान शोध पत्रिका*, 13(2).